सर्वोदय जैन विद्यापीठ
ग्रन्थालय
परिग्रहण संख्या
Accession No. 8582
वर्गांक
Call No. 294.504 Vid

आशीर्वचन

पूज्य पुरुष का अभिनिष्क्रमण
समग्र जन-मेदिनी/चेतना के लिए
प्रेरणा-स्रोत बन
जन-जीवन में
अभिनव संकल्प/परिवर्तन/प्रकाश दिलाने उपस्थित हुआ है।
सो आज,
सोयी हुई अर्द्धोन्मीलित संपूर्ण चेतनाएँ
तरोताजा होने को उद्यत हों,
और अब/अभी खोले अपने द्वार।
बजती हुई सूक्ष्म हृदय-तन्त्री को स्वर-ताल दें/लय दें/
महानगर इन्दौर समाज (धर्मानुरागी पद्मश्री बाबूलाल पाटौदी)
परम्परागत (जन्म, जयन्तियाँ) लीक से हटकर
परम पूज्य आचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज का
दीक्षा-दिवस/ विद्यावर्द्धनोत्सव सोल्लास मनाने का
अद्वितीय/अनुपम साहसिक कदम उठाये,

विद्यावर्द्धिनी पुस्तक-माला : २

णिच्छि-कमण्डलु

णिप्पिच्छे णत्थि णिव्वाणं ।

—आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार १०/२५

आचार्य विद्यानन्द मुनि

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन समिति, इन्दौर
१९९१

मन्त्री : बाबूलाल पाटोदी
श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति,
५५, सीतलामाता बाजार,
इन्दौर-४५२ ००२, मध्यप्रदेश

आवरण : आर. पांचाल

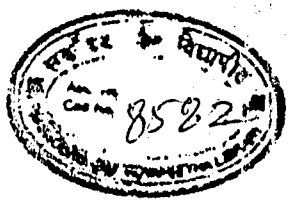

© वी.नि.ग्रं.प्र.स. इन्दौर
पिच्छि-कमण्डलु
आचार्य विद्यानन्द मुनि

संप्रेरणः उपाध्याय श्री गुप्तिसागरजी
संयोजनः पद्मश्री बाबूलाल पाटोदी
संपादनः डॉ. नेमीचन्द जैन

प्रथम आवृत्ति १९६४
द्वितीय आवृत्ति १९६७
तृतीय आवृत्ति १९७५
चतुर्थ आवृत्ति १९८०
पंचम आवृत्ति १९९१

294.402
VI

मूल्य : पन्द्रह रुपये

सौजन्य:धर्मानुरागी स्व.सेठ साकरलाल बुलाखीदास शाह, रांगांव (वेस्ट) बम्बई

मुद्रक
नईदुनिया प्रिंटरी
इन्दौर-४५२ ००९

प्रकाशकीय

"पिच्छि-कमण्डलु" का पहला संस्करण सन् १९६४ में जयपुर से प्रकाशित हुआ था। पूरे एक दशक बाद श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन-समिति, इन्दौर को इसके प्रस्तुत परिवर्द्धित संस्करण के मुद्रण का सुयोग मिला है। परमपूज्य उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज की यह कृति स्वयं में एक महत्त्वपूर्ण लोकोपयोगी कृति है। इसके संबंध में कुछ भी लिखना बौने के आकाश छूने के प्रयत्न के अलावा कुछ नहीं है। पूज्य मुनिश्री मानव-हृदय के पारखी और जैनविद्या के मर्मी अभीक्ष्ण स्वाध्यायी सन्त हैं। इधर के वर्षों में उन्होंने भारत के देहात और शहर दोनों में आत्मानुशासन का शंखनाद किया है। अपरिग्रह और अहिंसा के सिद्धान्तों को उन्होंने आसान और सुबोध भाषा में जनता-जनार्दन तक पहुँचाया है। वे इस युग के लोकपुरुष हैं और जहाँ भी उनका वपु योग या अल्पावधिक पड़ाव होता है, वे जनवाणी में तीर्थंकरों के जैनधर्म का प्रसार करते हैं और सामान्य जन की प्रज्ञा को उदात्त धरातल प्रदान करते हैं।

आज जबकि सारा देश अनुशासनपर्व के कठिन दौर से सफलता पूर्वक गुजर रहा है, आत्मानुशासन को विवेचित करने वाली इस कृति का मूल्य और महत्त्व स्वयं ही बढ़ गया है। वस्तुतः पूज्य मुनिश्री ने आत्मानुशासन के इस महापर्व का सूत्रपात वर्षों पूर्व कर दिया था। "समय का मूल्य" "अहिंसा : विश्वधर्म" "मद्यव्यसन" "अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग" उनकी इसी महापर्व का उद्घोष करने वाली मंगलमय कृतियाँ हैं।

"पिच्छि-कमण्डलु" के सारे निबन्ध आत्मनिष्ठ धरातल पर अध्यात्मपरक स्थितियों में स्पन्दित हैं। इनमें मुनिश्री की पारदर्शिनी ज्ञानदृष्टि सहज की प्रकट हुई है। यहाँ वे एक साथ ही वस्तु और भाषा, लक्ष्य और माध्यम दोनों के साथ पूरी निष्ठा और प्रखरता के साथ जी सके हैं; यही कारण है कि "पिच्छि-कमण्डलु" के निबन्ध जीवन के प्रायः सभी महत्त्व के क्षितिजों को छूते हैं और पाठकों के हृदय में कुछ टटके उपकालों को जन्म देते हैं। इन निबन्धों की भाषा समस्तपदीय है, अलंकार-समृद्ध है, कठिन है; तथापि शब्दपद-संयोजन-संस्थापन इतना सरल-सहज और धारावाही है कि पाठक का मन अजाने ही अनुभूतियों की गहराइयों में उतर जाता है। महत्त्वपूर्ण यह भी है कि "पिच्छि-कमण्डलु" में सभी वर्ग के पाठकों के लिए, विशेष और सामान्य, सामग्री योजित है। निबन्धों की मूल मुद्रा प्रवचनगर्भित है, किन्तु शैली और शिल्प इतने सरस और आकर्षक हैं कि पाठक उस चुम्बक से हजार जतन पर भी बच नहीं पाते। इसमें कई निबन्ध ललित निबन्धों के अन्तर्गत आ सकते हैं। कुल मिलाकर सारे निबन्ध रोचक, विद्यापरक, वस्तु समृद्ध, विवेचन में ललित किंतु निर्मम, और व्यक्ति तथा लोक दोनों के लिए संस्कारक हैं।

भाषा, लेखन, वक्तृत्व, वाङ्मय, स्वाध्याय इत्यादि निबन्ध जीवनपरक हैं। मुनिश्री का अमोघ वैदुष्य इन सब पर सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। निबन्धों की प्रतिपादन-शैली अनेकान्त-मूलक है, इसलिए यह संभव हुआ है कि पूज्य मुनिश्री गहरे पानी पैठकर

पिच्छि : कमण्डलु

णिप्पिच्छे णत्थि णिव्वाणं

—आचार्य कुन्दकुन्द

दिगम्बर मुनि के पास संयम तथा शौच के उपकरण के रूप में पिच्छि और कमण्डलु होते हैं। सर्वथा नग्न एवं अपरिग्रहमहाव्रती मुनि को चर्या की निर्विघ्नता के रक्षार्थ इन्हें रखने की शास्त्राज्ञा है। मानो, पिच्छि और कमण्डलु मुनि के स्वावलम्बन के दो हाथ हैं। प्रतिलेखन-शुद्धि के लिए पिच्छि की नितान्त आवश्यकता है और पाणि-पाद-प्रक्षालन के लिए, शुद्धि के लिए कमण्डलु वाञ्छनीय है। पिच्छिका मयूरपंखों से बनायी जाती है; अन्य पंख पिच्छि के लिए उपादेय नहीं माने गये। क्योंकि मुनियों के लिए हिंसा, चौर्य, परिग्रह आदि सर्वथा निषिद्ध हैं और मयूरपंख ही ऐसे सुलभ हैं जिन्हें वह उल्लिखित दोषों से बचते हुए ग्रहण कर सकता है (सकते हैं)। वह इस प्रकार कि मयूर वर्ष में एक बार अपनी जीर्ण पक्षावली का त्याग कर नवीन प्राप्त करता है अतः समय पर बिना हिंसा उसे प्राप्त किया जा सकता है। वनों में विचरते हुए, मुनियों को वृक्षों के नीचे पुष्कल परिमाण में स्वयं पतित पंख अनायास मिल जाते हैं। ये पंख स्वयं मयूर द्वारा परित्यक्त अतएव भूमिपतित होते हैं अतः इन्हें ग्रहण करने में चौर्यदोष भी नहीं लगता। तीसरी बात यह है कि प्रतिवर्ष और पुष्कल मात्रा में अनायास मिलते रहने से, यह आवश्यक नहीं कि इनको बटोर कर संगृहीत कर आगामी वर्षों के लिए संचित किया जाए जिससे कि परिग्रह दोष की सम्भावना हो। इसके अतिरिक्त मयूरपिच्छ का लवभाग (बालमय अग्रभाग) इतना मृदु होता है कि प्रतिलेखन से किसी सूक्ष्म जन्तु की हिंसा भी नहीं होती। स्वयं मयूरी के पंख भी पिच्छि के निमित्त उपादान नहीं हो सकते। एक जाति के युगल (दम्पति) में भी समान मृदुपिच्छ प्रसूत करने की क्षमता नहीं है अन्य जातीय पक्षियों के लिए तो कहना व्यर्थ ही है। इन कारणों से मयूरपिच्छिधारण दिगम्बर साधु की मुद्रा है। पिच्छि देखने से वह नग्नमुद्रा किसी प्रमादी की न होकर त्यागी का परिचय उपस्थित करती है। 'मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यात् निर्मुद्रा नैव मन्यते'—नीतिसार की यह उक्ति सारगर्भित है। मुद्रा चाहे शासन वर्ग हो, धार्मिक वर्ग हो अथवा व्यापार वर्ग हो सर्वत्र अपेक्षित होती है। मुद्रारहित की मान्यता नहीं। वैष्णवों, शाक्तमतानुयायियों, शैवों, राधास्वामीसाम्प्रदायिकों आदि में तिलक लगाने की पृथक्-पृथक् प्रणाली है। राजभृत्यों के कन्धों पर अथवा सामने वक्षःस्थल पर वस्त्र-निर्मित या धातुघटित मुद्रा (चिह्न) होती है, जिससे उसकी पद-प्रतिष्ठा जानी जाती है और राजभृत्यता की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। कागज के नोट 'मुद्रांकित होने से चलते हैं।

डाक-तार विभाग मुद्रात्मक है एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में जाने के लिए (पासपोर्ट) और रेलयात्रार्थ यात्रापत्र लेना आवश्यक है। इसीलिए भी श्रमणपरम्परा में आदिकाल से अभिमत चिह्न के रूप में पिच्छिकमण्डलु रखने का विधान चला आया है। 'भद्रबाहु क्रियासार' में पिच्छि रखना आवश्यक बताते हुए कहा गया है कि जो श्रमण पिच्छि नहीं रखता तथा उसकी निन्दा करता है वह 'मूढचारित्र' है, क्योंकि चारित्रपालन में, कायोत्सर्ग में, गमनागमन में, बैठने-उठने में पिच्छिका का सहयोग विदित है। अपेक्षासंयमी मुनि को अवधिज्ञान से पूर्व पिच्छि धारण करना शास्त्रसम्मत है। मराठी कवि जनार्दन ने त्यागियों के लिए लिखा है कि—

करोनी परिग्रहत्याग, तीन राखावे काये संग।
पुस्तक, पीछी ठेवी अभंग कमण्डलु भृंग शौचासी ॥ १३०

अर्थात् परिग्रहों का त्याग करो और पुस्तक, पिच्छि और कमण्डलु को रखो। यहाँ पुस्तक का अर्थ शास्त्र है। वास्तव में शौच, संयम और ज्ञान के तीन उपकरण रखने मुनि को उचित है। आचार्य सकलकीर्ति ने 'मूलाचार' में सूचना दी है कि 'कार्तिकमास में स्वयंपतित पिच्छों से सत् प्रतिलेखन तैयार कर लेना चाहिए यह लिंग है, योगियों का चिह्न है'[3]। जैसे शिशिर में वृक्षों के जीर्ण पत्र स्वयं गिर जाते हैं वैसे ही मयूरपंख कार्तिक में झड़ जाते हैं। अहिंसामहाव्रती जब किसी स्थान पर विराजमान होते हैं, तब इसी कोमलबालाग्र पिच्छि से बुहारकर बैठते हैं, जिससे दृश्य-अदृश्य जीवाणु वहाँ से अन्यत्र कर दिये जाते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनि, ऐलक, क्षुल्लक तथा आर्यिका ये सभी पिच्छि कमण्डलु धारण करते हैं। 'भद्रबाहु क्रियासार' में वर्णन है कि 'वह सूरि पाँच सौ शिष्यों सहित अथवा चार सौ तीन सौ एक पिच्छिधारियों को साथ लेकर विहार करता है। उपपति भी आचार्य का शिष्य होता है और आर्यिका पिच्छिधारण करती है'[4]। इस प्रकार पिच्छि रखने का निर्देश प्रतीत श्रमणपरम्परा से चला आया है। मयूरपंखनिर्मित पिच्छधारी दिगम्बर का उल्लेख वैदिक के पुराणसाहित्य में भी पाया जाता है। पद्म पुराण, विष्णुपुराण तथा शिवपुराण की टिप्पणी में दिये गये उद्धरणों से यह स्पष्ट है[5]। शिवपुराण में एक कथा आई है कि शिव

१. 'जो सयणो गहि पिच्छं णिच्छदि णिंदेदि मूढचारित्तो।
सो सयणं संघयरो अवदणिज्जो सदा होदि ॥' —भद्रबाहु क्रियासार, ७६
२. 'अवधेः प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छं यथागतम्।
यत् स्वयं पतितं भूमौ प्रतिलेखनशुद्धये।' —भावसंग्रह २७६
३. 'मत्वेति कार्तिके मासि कार्यं सत्प्रतिलेखनम्।
स्वयंपतितपिच्छानां लिंगं चिह्नं च योगिनाम् ॥' —मूलाचार पृ. ५१०
४. 'पंचसय पिच्छहत्थो अह चदु-तिय- दोण्णिहत्थो।
सपवइहु सीसो अज्जापुणु होदि पिच्छकरा ॥' —भद्रबाहु क्रियासार
५. 'योगी दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विज।' —पद्म. १३/३३
'ततो दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विज।' —वि. पु. ३/१८.
'मयूरचन्द्रिकापुंजपिच्छिकां धारयन् करे।' —शिवपु. ०/८०/८०

स्तेय नहीं है और इनका ग्रहण प्रमत्तत्व की हानि के लिए अभीष्ट है[1]। कषायसहित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को प्रमत्तयोग कहा गया है किन्तु धर्मपरिग्रह के रूप में आवश्यक पिच्छि और कुण्डी का ग्रहण कषायनिमित्तक नहीं है। प्रत्युत वीतराग मुनिचर्या का उपकारक है तथा च जीवरहित, अचित्त होने से पिच्छि-कमण्डलु प्रासुक हैं[2]। भद्रबाहुक्रियासार' में पिच्छि को मोक्ष का साधक अन्यतम कारण बताते हुए कहा है कि जो मुनि अपने पास पिच्छि नहीं रखता है वह कायोत्सर्ग के समय, स्थिति में, उत्थान में, गमनागमन में अपनी दैहिक क्रियाओं से सूक्ष्म जीवों का नाश करता है। परिणाम-स्वरूप उसे हिंसादोष लगता रहता है और मोक्षप्रतिबन्धक कर्मों से उसे मुक्तिश्री की प्राप्ति नहीं होती[3]। उक्त समर्थनों से सिद्ध है कि मयूरपिच्छिका धारण करना त्यागियों के लिए आवश्यक है। निर्वाणभूमि पर पहुँचाने में जहाँ सम्यग्दर्शनज्ञानसमन्वित सम्यक्चारित्र साक्षात्कारण है वहाँ पिच्छि-कमण्डलु भी चारित्रचर्या के सहायक उपकरण होने से उपकारक अथवा परम्परित कारण है। अत्यन्त कोमल, नयनाभिराम, सुन्दर होते हुए भी मयूर इनका यथासमय त्याग कर देता है और मोह नहीं करता। इस प्रकार यह निर्मोह सिखानेवाली है। मुनि को पिच्छि को देखते ही वीतराग भाव का स्मरण होना चाहिए। अहो! तिर्यक्योनि होते हुए भी मयूर को अपने एकमात्र अलंकरण बर्हों पर मोह नहीं उत्पन्न हुआ, मुनि तो मनुष्य पर्यायधारी है, धीमान हैं, विवेकसंपन्न हैं। यदि वह रागान्ध हो तो धर्म रसातल में चला जाना चाहिए। मयूरपंख देखकर संयम के भावों में अवश्य वृद्धि होती है और इसी हेतु से इसे संयमोपकरण कहना समीचीन है। पिच्छिधारण निर्मल तथा शुद्ध जिनलिंग है। इस तथ्य को 'षट्प्राभृत' ग्रन्थ के 'भावप्राभृत' प्रकरण की ७९ वीं गाथा के चतुर्थ चरण 'जिनलिंगं णिम्मलं सुद्धं—की टीका में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'जिनलिंगं नग्नरूप-मर्हन्मुद्रामयूरपिच्छिकमण्डलुसहितं निर्मलं कथ्यते। तद्व्यतिरिक्तलिंगं कश्मलमित्युच्यते। तीर्थंकरपरमदेवात्तत्पर्दोवना अवधिज्ञानाद् ऋते चेत्यर्थः। अर्थात् मयूरपिच्छि तथा कमण्डलुसहित नग्नरूप ही अर्हन्त भगवान् की मुद्रा है। वह निर्मल एवं निर्मल है। जो इन दोनों से रहित नग्नरूप है वह मलिन कहा जाता है; किन्तु तीर्थंकर, परमदेव, तत्पदधारक तथा अवधिज्ञानी को इनका धारण करना आवश्यक नहीं है। ये (उक्त) पिच्छिकमण्डलुरहित भी अर्हन् मुद्राधारी माने गये हैं। 'भावसंग्रह' में भी

---

१. *'प्रमत्तयोगतो यत् स्याददत्तादानमात्मनः ।*
स्तेयं तत् भूषितं दानादानस्योन्मार्गयोचरम् ॥
तेन सामान्यतोऽदत्तादानस्य सम्भुनेः ।
सरिन्निर्झरणाद्यम्भः शुष्कगोमयवर्जकम् ॥
भस्मादि वा स्वयं मुक्तं पिच्छालाबुफलादिकम् ।
प्रासुकं न भवेत् स्तेयं प्रमत्तत्वस्य हानितः ॥ —तत्वार्थश्लोकवार्तिक, ७/१५.

२. *प्रासुकस्यार्थ —'सुक्कं पक्कं पत्तं अम्मिलवणेण मिस्सयं दव्वम् ।*
जं जत्तेण हि छिन्नं तं सव्वं पासुयं भणियं ॥' —गृहस्थधर्म, ११.

३ *ठाणणिसिज्जागमणे जीवाणं हंति अप्पणो देहं ।*
दसकत्त रिठाण गदं णिपिच्छे णत्थि णिव्वाणं ॥' —भद्रबाहुक्रि., २५

केवलज्ञान से पूर्व तक पिच्छिधारण प्रतिलेखनशुद्धि के निमित्त आवश्यक कहा है[1]। अवधिज्ञान के अनन्तर इसका धारण आवश्यक नहीं। उपेक्षा-संयमी को पिच्छि की आवश्यकता नहीं; किन्तु अपेक्षासंयमी को धारणीय है ही। आदानसमिति तथा निक्षेप-समिति का उल्लेख करते हुए श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि 'अपहृतसंयमधारी मुनियों को आगम अर्थ के प्रत्यभिज्ञान के लिए बार-बार ज्ञानोपकरण (शास्त्र) की आवश्यकता होती है, विशुद्धि के लिए शौचोपकरण कमण्डलु की तथा संयमोपकरणरूप में पिच्छि की आवश्यकता होती है। इन शौच-संयम-ज्ञानोपकरणों के बारम्बार ग्रहण तथा विसर्ग में जो प्रयत्न-परिणाम होता है उसे आदानसमिति तथा निक्षेपणसमिति कहा गया है[2]। एकादश प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार के होते हैं, प्रथम एकलवस्त्रधारी, द्वितीय वस्त्ररहित कौपीनमात्रधारी। ये दोनों ही तप, व्रत नियमादि पालन करते हैं। कोपीनमात्र धारण करने वाले ऐलक 'कचलोच' करते हैं। पिच्छिधारण दोनों (क्षुल्लक, ऐलक) करते हैं। अनुप्रेक्षा (द्वादशानुप्रेक्षा) धर्मध्यान तथा किसी एक स्थान पर करपात्र में स्थितिभोजन और आसन लेकर भी आहार ग्रहण करते हैं[3]। मयूरपिच्छि के महत्व की सीमा नहीं है। त्यागी के लिए पिच्छि कितनी उपकारिणी है यह पर्याप्त बताया जा चुका है। पिच्छि को मिथ्यात्वनाशक तथा दुर्मदगजेन्द्र को बाधा देनेवाला सिंह कहा गया है। 'मिथ्यात्वनाशं मदसिंहराजम्—उसके लिए प्रयुक्त प्रशंसावाक्यों में से हैं। वसुनन्दि-श्रावकाचार, चारित्रसार, भगवती-आराधना और वट्टकेर मूलाचार इत्यादि में पिच्छिधारण का महत्व निरूपित किया गया है। जो त्यागी पिच्छिधारण करते हुए अपने भावलिंगी, वीतराग, त्यागप्रधान, लोकगुरुस्वरूप का संरक्षण नहीं कर पाता, वह मुनिवेष को तिरस्कृत करता है। मुनि और सामान्य लौकिक आगारधर्मियों में यदि सम्यक्चारित्र और अपरिग्रहादि से प्रतीयमान शिष्ट-विशिष्टबोधक भेदरेखा नहीं होगी तो पर्वत के शिखर और घाटियों के निम्नोन्नतत्व को समान आंकना होगा। पिच्छिधारण करने पर वह प्रवृत्तिमार्ग त्यागकर निवृत्ति मार्ग पर गतिमान् होता है। कोटि-कोटि जन जिस दिगम्बरत्व को अपना आराध्य, वन्दनीय मानते हैं वह उस वर्ग का महानुभाव व्यक्ति बन जाता है। ऐसी स्थिति में तप, त्याग, चारित्र और आत्मकल्याण की वीथि को प्रशस्त करने वाले व्यवहारों एवं निश्चयों के कठिन-कठोर मार्ग पर त्यागी को अधिक से अधिक सशक्त और अकम्प पद रखने चाहिए। जिस आस्था से उसने पिच्छिकमण्डलु लिये हैं उस आस्था के लोकपूज्य रूप की संवर्द्धना में योग देना मुनि का धर्म है। यदि पिच्छि धरकर भी त्यागी के मन में आकिंचन्य का उदय नहीं हुआ और परिग्रहों पर तृष्णा बनी रही तो निश्चय ही

---

१. *'अवधेः प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छं यथागतम् ।*
यत् स्वयं पतितं भूमौ प्रतिलेखनशुद्धये ॥' —भावसंग्रह, २७६.

२. *'पुस्तककमण्डलाद्युपग्रहणविसर्गयोः प्रयत्नपरिणामः ।*
आदाननिक्षेपणसमितिर्भवतीति निर्दिष्टा ॥' (छाया) —नियमसार

३ *एकादशस्थाने उत्कृष्टश्रावको द्विविधः । वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहो द्वितीयः ॥*
तपोव्रतनियमावश्यकलोचं करोति पिच्छं गृह्णाति ।
अनुप्रेक्षा धर्मध्यानं करपात्रे एकस्थाने ॥' —आलोचना.

...पथ पर हँसना इसका तो [illegible]
...पथ से एक निश्चित मार्ग तो सम्मुख रहता। अब पाँव जिस पर है और मन कुसुम की मृदुल पँखुड़ियों पर—यह देशाचार श्लाघनीय नहीं। जिस भूमि पर कष्ट होना है, उसीके होकर रहो। पिच्छिकमण्डलुधारण मात्र से मोक्ष मिल गया, ऐसा मानना मिथ्यात्व है। यदि ऐसा होता तो पिच्छि का प्रथम धारक सूर पहले मोक्ष गया होता। बहुत-से अकिंचन जो धातुपात्रों के अभाव में कमण्डलुधारक हैं, प्रतिष्ठा को प्राप्त किए होते; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। यह तो त्यागी के लिए अनिवार्य आवश्यकता होने से विहित है और बन्धन है। उसके लिए तो परपदार्थ सभी रुकावटें है और शरीर तक बन्धन माना गया है। पिच्छिकमण्डलु तो शरीर नहीं है और भी बाहर की वस्तुएँ हैं। कदाचित् इसी आशंका से मुनियों को सावधान करने की आवश्यकता शास्त्रकारों ने अनुभव की है। एक ओर वे कहते हैं कि यदि 'बिना पिच्छि के सात कदम गमन कर लिया तो कायोत्सर्ग करना होगा और दो कोस प्रमाण [illegible] पर बिना पिच्छि चल लिए तो शुद्धि तथा उपवास दो-दो प्रायश्चित आवश्यक होंगे।'[1] दूसरी ओर कहते है कि जो त्यागी पिच्छि तथा अस्तर (चटाई आदि) पर ममत्व करता है तथा ममत्व-परिणाम से आर्त-रौद्रध्यान-परायण होता है उसे क्या मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो सकती है? 'सारसमुच्चय' में भी पिच्छिव्यामोह पर कटाक्ष करते हुए लिखा है कि—'पिच्छिग्रहणमात्र से मुक्ति मिलती होती तो उसका प्रथम अधिकारी मयूर होना चाहिए और यदि उच्छ भोजन से मोक्ष होता तो वन में विकीर्ण (स्वयंपतित) वृक्षपत्रादि खाकर जीवनयात्रा चलाने वाले पशुओं को वह होना चाहिए किन्तु चँवरी गाय, पिच्छिधर मयूर, उच्छ और शिलभोजी वन्यजीवों को उद्दिष्ट उपकरणों से मोक्ष सम्भव नहीं। मोक्ष की उपलब्धि सम्यक् चारित्र द्वारा ही होती है। पिच्छि और कमण्डलु मुनिचर्या के सहायक उपकरण मात्र हैं और उपेक्षासंयम अवस्था में, अवधिज्ञानी होने पर अथवा ऋद्धि होने पर उसकी आवश्यकता नहीं रहती। पिच्छि से विहित चर्यासम्बन्धी मात्र प्रायश्चित्त है, यथेच्छ व्यवहार उसके द्वारा नहीं किया जा सकता। यथेच्छ व्यवहार तो प्रायश्चित्त का कारण बन जाता है। नीरोग-दशा में यदि मुनि उसे मस्तक पर छायार्थ उपलब्धित करता है, छाती को आच्छादित करता है और मस्तक-आवरक बनाता है तो उसे प्रायश्चित्त कल्याणक देना चाहिए। कमण्डलु में दोष नहीं माना क्योंकि[2] तथापि यह अपवाद मार्ग है। अतः यावच्छक्य मुनि को अपवाद और प्रायश्चित्तीय मार्ग नहीं लेना चाहिए। पिच्छि [illegible] संसेचन गुण से युक्त है किन्तु कमण्डलु में सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होती रहती है अतः उनके निराकरणार्थ एक पक्ष में उसे बाहर-भीतर से प्रक्षालित करते रहना चाहिए। यदि एक पखवाड़े के पश्चात् भी कमण्डलु का सम्प्रोक्षण नहीं किया गया तो

१ अन्यत् किमुपकरणं साधोः पक्षे-क्षे कमण्डलुमन्।
तदुपेक्षायां देहे सोपेक्षत्वात्तदप्यलम् ॥' —आ. सम्बुद्धाष्टक, ८८

२ 'पिच्छेण हु सम्मत्त करवहिए चमरसोरडवर ण।
समभावे सिद्धिहु दुण्हवि दोसण्णवेण ॥' —७/७ गाथा, ६८

३ 'चेल्ला चेल्ली पुत्थियेहि पुत्थइ मूढ़ णिभंतु।
एयहि सज्जइ णाणियउ बंधइ हेउ मुणंतु ॥
पट्टाहि पट्टहि कुडियहि चेल्लाचेल्लियराहि।
मोह जणेविणु मुणिवरहं उप्पहि पाडियतेहि ॥' —रामात्मप्रकाश, ८८-९१

१. अन्यत् किमुपकरणं साधोः पक्षे-क्षे कमण्डलुमन्।
तदुपेक्षायां देहे सोपेक्षत्वात्तदप्यलम् ॥' —आ. सम्बुद्धाष्टक, ८८

२ 'पिच्छेण हु सम्मत्त करवहिए चमरसोरडवर ण।
समभावे सिद्धिहु दुण्हवि दोसण्णवेण ॥' —७/७ गाथा, ६८

३ 'चेल्ला चेल्ली पुत्थियेहि पुत्थइ मूढ़ णिभंतु।
एयहि सज्जइ णाणियउ बंधइ हेउ मुणंतु ॥
पट्टाहि पट्टहि कुडियहि चेल्लाचेल्लियराहि।
मोह जणेविणु मुणिवरहं उप्पहि पाडियतेहि ॥' —रामात्मप्रकाश, ८८-९१

...प्रतिक्रमण तथा उपवास लेना होगा।[1] इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जो पिच्छिग्रहण की मर्यादा का निरूपण करते हैं और वैसे भी हैं जो अवधिज्ञानादि विशेष स्थितियों में इसकी आवश्यकता का सर्वथा निराकरण करते हैं तथा इस पर उत्पन्न हुए व्यामोह की यावच्च आर्तरौद्रं तावन्न मुंचति'—कहकर भर्त्सना भी करते हैं। इन्हें परस्पर विरोधी नहीं मान सकते; क्योंकि जो पिच्छिकमण्डलु-ग्रहण की आवश्यकता का निरूपण करते हैं वे मुनिचर्या के विधिपरक सूत्र हैं और सम्यक्- जिनलिंग को प्रमाणित करते हैं; किन्तु पिच्छिग्रहण मात्र से मोक्ष नहीं होता, अथवा पिच्छिकमण्डलु पर आसक्तिभाव नहीं रखना चाहिए— इत्यादि प्रतिपादन करने वाले सूत्र हैं, वे मुनि के व्यामोहनिवर्तक हैं। हो सकता है, मोह तथा अज्ञान के प्रभाव से मुनि को अपने पिच्छिकमण्डलु पर व्यामोह उत्पन्न हो जाए या शास्त्रज्ञान के अभाव में अथवा मूढ़ आग्रह से वह पिच्छि को ही इतना महत्व देने लगे कि—'बस! पिच्छि मिल गई, मानो मोक्ष मिल गया'—और ऐसा मानकर सम्यक्चारित्र पालन में शिथिलाचारी हो जाए, ऐसी स्थिति में उसे इन गाथाओं, श्लोकों तथा सूत्रों से सचेत् मिलनी चाहिए कि पिच्छिग्रहण करने मात्र से कोई सम्यक्त्वी नहीं बन जाता[2]। सर्वसत्यागी त्यागी के व्रतों की निर्दोष रक्षा के लिए ही इन निषेधसूत्रों का निर्माण किया गया है; क्योंकि परिग्रह का अर्थ विशाल- सम्पत्ति से गतार्थ नहीं होता, एक सुई भी मूर्च्छा (व्यामोह) का कारण हो सकती है और वह सूची का अग्रभाग भी मूर्च्छाकारक होने से परिग्रह कहा जाएगा— मूर्च्छा परिग्रहः'—यह सूत्र उपादानों की विपुलता को ही परिग्रह नहीं मानता, अपितु जिस वस्तु के सहमात्र ग्रहण से मूर्च्छा का उदय हो, वही परिग्रह है। तब व्यामोह होने से पिच्छि भी मुनिचर्या की साधिका न होकर प्रत्यवायकारिणी हो सकती है। परमात्मप्रकाश की उक्ति है कि—'चेला-चेलियों का परिवार बढ़ाकर, पुस्तकों का प्रभूत संग्रह कर अज्ञानी को हर्ष होता है। किन्तु जो ज्ञानी है, वह इन परिग्रहों से शरमाता है तथा इन्हें राग और बन्धकारण मानता है। यदि त्यागी का मन चेला-चेलियों, पुस्तकों, पिच्छि-कमण्डलुओं, श्रावक-श्राविकाओं, अर्जिका-क्षुल्लक-ऐलक-परिवारों में तथा चौका-पट्टे-चटाई आदि में उलझा रहा तो इनको लेकर रहकर उसे आर्त-रौद्र ध्यान में फँसना पड़ेगा न निराकुलचर्या हो सकेगी न स्वाध्याय और सामायिक जिन आवश्यककार्यों के लिए मुनिदीक्षा ली, वे उद्देश्य कहीं मूर्च्छाओं में खो जाएँगे। ये परिग्रह त्यागी का पतन कराने में सहायक होकर उसे आत्ममार्ग से विस्मृत कर सकते हैं। त्याग और रागी के धर्म

१ अन्यत् किमुपकरणं साधोः पक्षे-क्षे कमण्डलुमन्।
तदुपेक्षायां देहे सोपेक्षत्वात्तदप्यलम् ॥' —आ. सम्बुद्धाष्टक, ८८

२ 'पिच्छेण हु सम्मत्त करवहिए चमरसोरडवर ण।
समभावे सिद्धिहु दुण्हवि दोसण्णवेण ॥' —७/७ गाथा, ६८

३ 'चेल्ला चेल्ली पुत्थियेहि पुत्थइ मूढ़ णिभंतु।
एयहि सज्जइ णाणियउ बंधइ हेउ मुणंतु ॥
पट्टाहि पट्टहि कुडियहि चेल्लाचेल्लियराहि।
मोह जणेविणु मुणिवरहं उप्पहि पाडियतेहि ॥' —रामात्मप्रकाश, ८८-९१

भिन्न-भिन्न हैं। प्रसंगवश यहाँ यह लिखना अवसरोचित होगा कि त्यागियों को धनसंम्पन्न तथा स्वल्पवित्त, विशेष अथवा सामान्य श्रावकों, जनों के आगमन पर अपने को अधिक गौरवशिखरारूढ़ नहीं मानना चाहिए। उनका समभाव ही लोककल्याणकारक है। ऊँचे-नीचे आसनों की व्यवस्था तो राजपरिषदों में ही बहुत है। स्वयं भूमि पर, शिलातल पर अथवा चटाई पर बैठने वाले मुनियों के पास आने वाले को गद्दी-मसनद (गावतकिया) या मृदुल मखमली गलीचों की अपेक्षा नहीं होती। वह तो मुनिचरणों में उपासीन होकर त्यागी के चरणों की धूलि ललाट पर लिम्पन कर प्रसन्न होता है। उसके लिए सम्भ्रम के उपकरण प्रस्तुत कर उसके आगमन को अतिरंजित बनाना वीतराग मुनिचर्या से विपरीत है। श्रमणों के आराध्य भगवान् के लिए तो स्तुति के छन्द लिखते समय 'इन्द्रःसेवां तव सुतनुतां'—कहा गया है। विगौरव का दोष जानबूझकर नहीं लेना ही श्रेष्ठ है। इस विषय में सिकन्दर और दिगम्बर मुनि के साक्षात्कार का एक प्रसंग इतिहासप्रसिद्ध है। त्यागी को उस आरण्यक नदी के समान होना चाहिए जिसके तट पर हाथी पानी पीने आए तो वह हर्षित होकर किनारों पर उच्छलित नहीं होती और हरिण आए तो मन छोटा नहीं करती। उसके दो पाटों की अंजलि का नीर सबके लिए समान सुलभ है। मुनि- त्यागी का स्थान सम्राटों से भी ऊपर है। सम्राट भी त्यागी के आशीर्वाद की अपेक्षा करता है और उससे ऐश्वर्य, विभूति, कृपाप्रसाद चाहता है; किन्तु मुनि निरपेक्ष है। यदि संसार आशा का दास है तो त्यागी ने आशा को दासी बना लिया है। वे मुनि मनुष्यपर्यायी होते हुए भी मनुष्यकोटि से ऊपर हैं। चिन्ता को वशीभूत करने से उन्हें सिद्ध (तपस्वी) कहा जाता है। 'जे नर चिन्ता बस करहिं ते माणस नहिं सिद्ध'—ऐसा कहते हुए उनका स्तवन किया गया है और इतने पर भी वे केवल 'बाह्यग्रन्थिविहीना:' ही हों तो क्या कहा जा सकता है? वह तो अंगार में विद्रुम का भ्रम ही कहा जा सकता है।

प्रस्तुत निबन्ध 'पिच्छि और कमण्डलु' मुनियों के द्वारा धारणीय शौच-संयमोपकरण-विषयक है और ज्ञानोपकरण के रूप में शास्त्र रखने का, स्वाध्याय-तत्पर रहने का आदेश शास्त्रों में दिया गया है अतः लेख समाप्ति से पूर्व यह आवश्यक है कि 'मूलाराधना' की उन पंक्तियों को स्मरण कर लिया जाए, जिनमें शिक्षा (स्वाध्याय) का आग्रह करते हुए आचार्य ने कहा है कि—'प्राण जब कण्ठगत हों तब भी मुनि, तपस्वी को प्रयत्नपूर्वक आगमस्वाध्याय करना चाहिए।'—आचार्य श्रीकुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—'आगमचक्खू साहू' और 'अज्जाम जमेव जाणं'—साधु की आँखें उसका शास्त्र है। जहाँ उसे चर्या में संशयविकल्प हों, तत्काल शास्त्रों की शरण लेनी चाहिए। शास्त्र बताते हैं कि वह क्या करे? क्या न करे? और त्यागी का ध्यान उसका अध्ययन है। अध्ययन द्वारा ही वह सम्यक्त्व के विषय में जानकारी प्राप्त करता है। शास्त्रों की सीप से सम्यक्त्व के मुक्ताफल मिलते हैं। तन्मयता बढ़ती है और ज्ञानसम्पन्न होने से स्व-पर का बोध होता है। इस प्रकार ध्यान द्वारा जो परिणामविशुद्धि होती है वही शास्त्रस्वाध्याय से सिद्ध होती है। यही सोचकर आचार्य कहते हैं 'अध्ययनम् एव ध्यानम्'—यहाँ 'एव' शब्द निश्चयपरक है। वास्तव में जिन सरस्वती के दर्शन करने वालों ने तन्मय होकर अध्ययन में ही ध्यान तथा समाधि

प्राप्त की है। जिन्होंने दुस्तर संसारवारिधि को तैरकर पार जाने के लिए पिच्छिकमण्डलु तथा शास्त्र तीन उपकरण एवं सम्यक्त्वपूर्वक दर्शन-ज्ञानचारित्र-रूप त्रिरत्नों को धारण कर लिया है मानो उसने जन्म-पुनर्जन्म की गति रोकने के लिए वज्रमय तिहरी प्राकारभित्तियों का निर्माण कर लिया है। पिच्छि शिवमार्ग की बुहारी है, कमण्डलु सिंचन करने वाला है और शास्त्र शिवमार्ग की दिशाबोध की ध्रुवसूची (कम्पास) है। उस दुर्गम पथ पर पहुँचने वाला तो कर्मरजोविमुक्त आत्मा ही है, इति शुभम्।

उपसंहार—

'पिच्छे संथरणे इच्छासु लोहेण कुणदि ममयारं।
यावज्च अट्टरुद्दं ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं॥'

—आचार्य कुन्दकुन्द, रयणसार

जो साधु पिच्छि संथरण, संथारा एवं नाना कामनाओं में लोभ से ममकार-ममत्व करता है और जब तक वह इस प्रकार के आर्त्त-रौद्र ध्यान में फँसा रहता है उसे न निराकुलतारूप सुख मिलता है और न उसकी मुक्ति ही होती है।